International Journal of Advanced Research and Development
ISSN: 2455-4030
Impact Factor: RJIF 5.24
www.advancedjournal.com
Volume 3; Issue 2; March 2018; Page No. 378-380

भारतीय दर्शन में प्रामाण का विवेचन

डॉ० विनिता शर्मा
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान, भारत।

प्रस्तावना

प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्[1] प्रमाण के इस व्युत्पत्तिमूलक अर्थ के आधार पर प्रमाण को करण के रूप में सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। सभी भारतीय दार्शनिक मतों की प्रमाण सम्बन्धी परिभाषाओं से यह प्रतीत होता है कि यदि सूक्ष्मरूप से विचार किया जाये तो प्रमाण मूलक तीन परम्पराएँ प्राप्त होती है (1) प्रमा के साधकतमकरण के रूप में (2) सम्यक्ज्ञाान के रूप में (3) अनावरण रूप में। उपर्युक्त परम्परा के विभाजन से यह नहीं कहा जा सकता है कि अमूक दर्शन की यहीं विशिष्ट परम्परा है, उदाहरण के लिए जैन और बौद्ध जिन्होंने सम्यक्ज्ञान को ही प्रमाण कहा है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे उसे एक करण के रूप में नहीं स्वीकार करते। सम्यक् दृष्टिपात करने से यह विदित होता है कि जिन दार्शनिकों ने प्रमाण को मुख्यतः करण के रूप में स्वीकार किया है उनका ध्यान विशेष रूप से इसके व्युत्पत्तिमूलक अर्थ पर रहा। इन मतों के अन्तर्गत मुख्य रूप से न्याय, मीमांसा, वेदान्त एवं सांख्यदर्शन का उल्लेख किया जा सकता है। इनके अनुसार प्रमाण मुख्यतः प्रमा का साधकतम करण है। द्वितीय परम्परा जो मुख्यतः सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण के रूप में स्वीकार करती है उसके अन्तर्गत जैन और बौद्ध है। इनके मत के अनुसार सम्यग्ज्ञान ही गौण रूप से करण के रूप में प्रस्फुटित होने लगता है। इस प्रकार हम देख सकते है कि इन परम्पराओं का आधार क्रमशः व्युत्पत्तिमूलक अर्थ एवं सम्यग्ज्ञान रूपत्व की गौणता और मुख्यत्व है। तृतीय परम्परा जिसमें प्रमाण को अनावरक रूप में स्वीकार किया गया है। उसके अनुसार प्रमाण का कार्य मोह या अज्ञान का अपसारण मात्र है। इसके अन्तर्गत शैव एवं शाक्त दर्शनों का उल्लेख किया जा सकता है। यहाँ पर प्रमाण करण रूप है, कारक रूप में इसका प्रयोग नहीं है बल्कि गौण अर्थ है। करण यहाँ निषेद्यात्मक है।[2] प्रमाण को न्याय दर्षन में विचार का मुख्य विषय माना गया है। गौतम ने चार प्रकार के प्रमाण माने है–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। न्यायसूत्र में भाष्यकार कहते है प्रत्यक्षानुमानोंपमानषब्दाः प्रमाणानि।[3] प्रथम प्रमाण प्रत्यक्ष है–इन्द्रियों के साथ प्रत्यक्ष संबंध होने से किसी वस्तु का जो ज्ञान होता है वह 'प्रत्यक्ष' है। न्यायसूत्र में प्रत्यक्ष की व्याख्या की गई है कि अक्ष–अक्ष के (चक्षुरादि षड्इन्द्रियों का प्रतिविषय में अपने–अपने रूपादि विषयों में) सन्निकर्ष रूप वृत्ति (व्यापार) को अथवा ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है।[4] दूसरा प्रमाण अनुमान है–लिंग (लक्षण) और लिंगी दोनों के प्रत्यक्ष ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान को 'अनुमान' कहते है। न्यायसूत्र में व्याप्ति से निष्चित (ज्ञापन) किये सिद्ध लिंग (साधक हेतु) से सिद्ध करने योग्य (ज्ञाप्य) पदार्थ का प्रत्यक्ष के पष्चात् मानना (जानना) अनुमान प्रमाण होता है। (जैसे महानस में धूम में वह्नी की व्याप्ति का निष्चय होने के कारण पर्वत में प्रत्यक्ष धूम देखकर वह्नी की धूम से सिद्धि होती है।[5] तीसरा प्रमाण उपमान है–किसी जानी हुई प्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य द्वारा वस्तु का ज्ञान जिस प्रमाण से होता है वह 'उपमान' कहलाता है। न्यायसूत्र में सामीप्य (सादृष्य) ज्ञान को उपमान प्रमाण कहा है उदाहरण रूप से जैसी गौ होती है वैसा गवय (नीलगाय)। इस वाक्य में सामीप्य षब्द का अर्थ सामान्य योग अर्थात समान धर्मो का संबंध है।[6] चौथा प्रमाण शब्द है–आप्त या विश्वास पात्र पुरूष की बात को 'शब्द' प्रमाण कहा गया हैं। न्यायसूत्र के अर्न्तगत चतुर्थ षब्द प्रमाण का लक्षण देते हुए भाष्यकार कहते है कि जिससे पदार्थ कहा जाता है अथवा जनाया जाता है, वह षब्द नामक चतुर्थ प्रमाण कहलाता है।[7] इन चारों प्रमाणों के अतिरिक्त मीमांसक, वेदान्ती, पौराणिक और साहित्यिक पाँच प्रकार के और प्रमाण मानते है वे हैं–ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव, चेष्टा और अभाव। इसके अतिरिक्त काव्य में प्रतिभा की एवं धर्म व नीति में विषय में अन्तःकारण को ही प्रमाण माना है। जो बात केवल परम्परा से प्रसिद्ध चली आती है वह जिस प्रमाण में मानी जाती है उसको 'ऐतिह्य' प्रमाण कहते है। जिस बात से बिना किसी देखी या सुनी बात के अर्थ में आपत्ति आती हो उसके लिए 'अर्थापत्ति' प्रमाण है। व्यापक के भीतर व्याप्य, अंगी के भीतर अंग का होना जिस प्रमाण से सिद्ध होता है उसे 'संभव' प्रमाण कहते है। जिस प्रमाण को तांत्रिक और कला–साहित्यिक मानते है यह चेष्टा प्रमाण कहलाता है। किसी वस्तु का न होना जिस प्रमाण से सिद्ध होता है वह 'अभाव' कहलाता है। अतः भारतीय दर्शन में प्रमाण को किसी ने एक माना, किसी ने दो और किसी ने तीन, इस प्रकार प्रमाणों की संख्या नव (नौ) होती चली गई जिनका संक्षिप्त रूप से विस्तार निम्न प्रकार है:–

प्रत्यक्ष प्रमाण– भारतीय दर्शन में "प्रत्यक्ष" शब्द का प्रयोग "प्रत्यक्ष प्रमा" एवं "प्रत्यक्ष प्रमाण" दोनों के लिए किया जाता है। प्रत्यक्ष की व्युत्पत्ति में दो पद–प्रति+अक्ष। "प्रति" का तात्पर्य समक्ष (सम्मुख) एवं "अक्ष" का तात्पर्य "इन्द्रिय" से होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष का सामान्य अर्थ हुआ इन्द्रिय के समक्ष उपस्थित होना। प्रत्यक्ष ज्ञान साक्षात् एवं अव्यवहित ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण एक स्वतंत्र प्रमाण है और सभी भारतीय दर्शनों में सर्वसम्मत रूप से स्वीकार किया गया है। यह प्रत्यक्ष प्रमा का कारण है। प्राचीन नैयायिक (गौतम) के अनुसार प्रत्यक्ष इन्द्रियसन्निकर्ष से उत्पन्न अव्यपदेश्य अव्यभिचारी एवं व्यवसायात्मक ज्ञान है।[8] जब ज्ञानेन्द्रियाँ और मन अपने–अपने विषयों से सम्बद्ध होते है तब जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। प्रत्यक्ष की स्पष्ट परिभाषा न्यायसूत्र में उपलब्ध होती है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है तथा इसको ''अव्यपदेश्यम्'', ''अव्यभिचारी'' तथा ''व्यवसायात्मकम ये तीन विषेषण दिये गये है। प्रत्यक्षज्ञान निर्विकल्पक और सविकल्पक होता है। प्रत्यक्षज्ञान के लिये किसी न किसी प्रकार से विषय का सन्निकर्ष प्राप्त करना आवश्यक है। ये सन्निकर्ष हैं–''लौकिक सन्निकर्ष और अलौकिक सन्निकर्ष''। लौकिक सन्निकर्ष में संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त

समवेत समवाय, समवेत समवाय और विशेषण–विशेष्य भाव माने जाते है। अलौकिक सन्निकर्ष में सामान्य लक्षण सन्निकर्ष, ज्ञानलक्षण और योगज माने जाते है। मीमांसा दर्शन में प्रत्यक्ष का स्वरूप न्याय–वैशेषिक से बहुत कुछ भिन्न नहीं है। केवल अन्तर इतना ही माना जा सकता है कि मीमांसा दर्शन योगज दर्षन को नही स्वीकार करता है। कुमारिल भट्ट ने योगज प्रत्यक्ष को असम्भव माना है। भाट्ट मीमांसकों के प्रत्यक्ष सिद्धान्त में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि ये इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को तो मानते है किन्तु श्रौत, इन्द्रिय और चक्षु इन्द्रिय के विषय में यह नहीं मानते कि इन्द्रियाँ स्वयं विषय तक जाती है या इन्द्रियों के माध्यम से चित्तवृत्ति विषय तक जाती है। इनका मानना है कि चक्षु इन्द्रिय तेजस् से निर्मित है अतः इन्द्रिय से बाहर प्रकाश जाता है। इसी प्रकार श्रौत्रिय इन्द्रिय एक शब्द दूसरे शब्द को उत्पन्न करता हुआ स्वयं श्रोत्रिय इन्द्रिय तक आता है। सांख्य और योगदर्शन में प्रत्यक्ष ऐसा ज्ञान है जो विषय से सम्बद्ध होकर उसके आकार को धारण कर लेता है। विज्ञानभिक्षु की मान्यता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण एक ऐसा ज्ञान अर्थात्–बुद्धिवृत्ति है जो विषय से सम्बद्ध होती हुई सम्बद्ध वस्तु के विषय को धारण कर लेती है। सांख्यकारिका में ''प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्'' अर्थात् प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय से उसके विषय का निश्चय पूर्वक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। अध्यवसाय विशेषण में ही अव्यभिचारी आदि का अन्तर्भाव हो जाता है। सांख्य में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष के लिये अवश्य माना है, किन्तु इन्द्रियाँ विषय के पास नहीं जाती इन्द्रियाँ तो केवल द्वार है जिनके माध्यम से केवल बुद्धिवृत्ति बाहर जाकर विषय के सम्पर्क में आकर तदाकार हो जाती है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार परम तत्व केवल एक ब्रह्म है। यह शुद्ध चैतन्य है और कूटस्थ नित्य है अतः पारमार्थिक दृष्टि से इसमें किसी प्रकार के ज्ञान के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता जो भी ज्ञान होता है वह व्यवहारिक सत्ता का है। अतः इनके अनुसार अन्तःकरण से अविच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ चैतन्य है और अन्तःकरण की वृत्ति से अविच्छिन्न चैतन्य प्रमाण चैतन्य है। बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुए दिङ्नाग ने कहा है कि कल्पना से रहित नाम जाति आदि से रहित ज्ञान प्रत्यक्ष है। धर्मकीर्ति ने इसका परिष्कार करते हुए कहा–कल्पना से रहित अर्थात्–अभ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष है। इन्होने प्रत्यक्ष का लक्षण इन्द्रियार्थजन्य नहीं किया है। धर्मोत्तर ने साक्षात्कारि ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। जिसका अर्थ है इन्द्रियाश्रित ज्ञान नहीं होना चाहिए। जैन दर्शन में दो प्रकार की प्रमा को स्वीकार किया गया है–अपरोक्ष और परोक्ष। जो ज्ञान माध्यम रहित और स्पष्ट होता है वह अपरोक्ष है। जब वह माध्यम सहित होता है तब परोक्ष होता है। इसलिये जैन दर्शन में ''विशदं प्रत्यक्षम्'' अर्थात् स्पष्ट ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। जैन दर्षन में मुख्यतः प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है–अवधि, मनःपर्याय और केवल। अवधिज्ञान काल तथा देश की दृष्टि से दूर स्थित विषयाकार ज्ञान है, पर्याय दूसरे के मनों में स्थित विषय का ज्ञान है, केवलज्ञान देशकाल से रहित सीमा का ज्ञान है।

अनुमान प्रमाण

भारतीय दर्शन के द्वितीय प्रमाण के रूप में अनुमान प्रमाण को केवल चार्वाक छोड़कर सभी दर्षनों ने स्वीकार किया है। अनुमान प्रमाण के विषय में तथा उसके अवयव, लिंग परामर्श, व्याप्ति आदि पर भारतीय दार्शनिकों ने विशद विवेचना प्रस्तुत की गयी है। अनुमान की जिन समस्याओं पर विवाद है उनमें पक्षता अर्थात् अनुमान ज्ञान के प्रमुख साधन, हेतुरूप, व्याप्ति और हेत्वाभास अर्थात् असत् हेतु की समस्या मानी गयी है। हेतु और साध्य के व्याप्ति मूलक ज्ञान अनुमान कहलाता है। अनुमान की सामान्य व्याख्या में अनुमान ज्ञान आधारित होता है पक्षधर्मता एवं व्याप्ति ज्ञान के ऊपर जैसे कि पर्वत में अग्नि को देखकर व्याप्ति ज्ञान से धूम का अनुमान। प्रत्यक्ष से ही धूम और अग्नि की व्याप्ति को ग्रहण करते हैं। हम जानते हैं कि जहाँ–जहाँ धूम होता है वहाँ–वहाँ अग्नि होती है इसलिये जब पर्वत पर धूम दिखाई देता है तो अनुमान करते है कि वहाँ अग्नि अवश्य है। यहाँ पर्वत पक्ष है, धूम हेतु या लिंग है जो साध्य (वह्नि) व्याप्त है। पर्वत में वह्नियुक्त धूम का होना पक्षधर्मता कहा जाता है।

शब्द प्रमाण

भारतीय दर्शन में चार्वाक, बौद्ध और वैशेषिक को छोड़कर सभी शब्द प्रमाण को स्वीकार करते हैं। मीमांसकों में प्रभाकर केवल श्रुति को ही स्वतंत्र शब्द प्रमाण मानते हैं। बौद्ध और वैशेषिक दर्शन शब्द को प्रमाण नहीं मानते; इसे अनुमान के अन्तर्भूत कर लेते हैं। चार्वाक शब्द को प्रमाण ही नहीं मानता। न्यायदर्शन में शब्द प्रमाण की परिभाषा करते हुए कहा है कि ''आप्तोपदेशः शब्द''–जिस विद्वान् ने जिस विद्या को या ज्ञान को प्राप्त कर लिया है उस ज्ञान के विषय में उसके कथन को शब्द या प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है।

उपमान प्रमाण

भारतीय दर्शन में उपमान प्रमाण को मीमांसा, न्याय तथा अद्वैत वेदान्त द्वारा प्रमाण माना गया है। न्यायदर्शन में प्रसिद्ध साधर्म्य से साध्य सिद्ध किया जाना उपमान प्रमाण है। जैसे किसी ने कहा कि जैसी गौ होती है वैसी गवय होती है। वन में जाने पर गौ–सादृश्य पशु को देखकर यह जाना कि यह गवय है। सांख्य व अन्य दार्शनिक उपमान का अन्य प्रमाणों में अन्तर्भाव करते हैं।

अर्थापत्ति प्रमाण

मीमांसा दर्शन के दोनों सम्प्रदाय भाट्ट और प्रभाकर तथा अद्वैतवेदान्त–अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण रूप में स्वीकार करते हैं। ''अर्थादापद्यते इति अर्थापत्ति'' जो ज्ञान अर्थ से प्राप्त होता है वह अर्थापत्ति प्रमाण कहलाता है। जैसे कि देवदत्त मोटा हो रहा है, वह दिन में भोजन नहीं करता है और वह मोटा भी हो रहा है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अर्थात् वह रात्रि को खाता है। दूसरा हम इसे इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि देव जीवित है, परन्तु वह घर में नहीं है अर्थात् देव का घर में अभाव है इसका अर्थ यह हुआ कि वह घर से बाहर है। वेदान्त परिभाषा में भी अर्थापत्ति को दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति–दोनों रूपों में स्वीकार किया है। अन्य दार्शनिक अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण स्वीकार न करके अन्य प्रमाणों में उसका अन्तर्भाव स्वीकार करते है।

अनुपलब्धि प्रमाण

अद्वैत वेदान्त ने अनुपलब्धि को अलग से प्रमाण रूप में प्रतिष्ठापित किया है जैसे कि यह घटाभाव है। घट के अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। मीमांसा, न्याय, वैषेषिक आदि दर्षनों में अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में नही स्वीकार किया जाता है वे किसी अन्य प्रमाण में ही उसका अर्न्तभाव स्वीकार करते है।

संदर्भ

1. न्यायसूत्र–1/1/3
2. तांत्रिक ज्ञान–मीमांसा, पृ॰–139–140
3. न्यायदर्षनम् (वात्स्यायनभाष्य), सूत्र–3
4. वही, पृ॰–23

5. वही, पृ॰–24
6. वही, पृ॰–24
7. वही, पृ॰–24
8. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्ययदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। न्यायसूत्र–1/1/4
9. अमरसिंह, 'अमरकोष', निर्णयसागर, 1920
10. महला, महेन्द्र सिंह, 'भारतीय दर्शन शब्दकोष', (दौलतचन्द जैन), जैन प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर, 2004
11. कणादमुनि, 'वैशेषिकदर्शनम्', चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1966
12. शास्त्री, धर्मेन्द्रनाथ, 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, मोतीलाल बनारसीदास, बंग्लोर रोड़, दिल्ली, 1985
13. शुक्ल, बलिराम, 'न्यायसिद्धान्तमंजरी (न्यायसिद्धान्त चूडामणि)', (श्री जानकीनाथ भट्टाचार्य विरचिता), इस्टर्न बुक विंकर्स जवाहर नगर, दिल्ली, 1995
14. हेमचन्द्राचार्य, 'प्रमाणमीमांसा' सिंधी जैन ग्रंथमाला, 1939
15. सूरि, हरिभद्र 'षड़दर्शन समुच्चय', भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1997